पं. दीनदयाल उपाध्याय

(मेरी स्मृति में)

– प्र.ग. सहस्रबुद्धे

।।श्री।।

दीनदयाल जी मेरी स्मृति में

पंडित दीनदयाल जी की एक सुन्दर पुस्तक है, "राष्ट्र जीवन की दिशा"। उसका मैंने मराठी में अनुवाद किया है। उसे पढ़कर अनेकों ने मेरी प्रशंसा करते हुए कहा, "यह अनुवाद है ऐसा कहीं प्रतीत ही नहीं होता है। लगता है, हम मूल ग्रन्थ ही पढ़ रहे हैं। सरस तथा उत्कृष्ट अनुवाद का यह एक आदर्श माना जा सकता है। इसका क्या रहस्य है ?"

मैंने उन्हें उत्तर दिया, "अनुवाद उत्तम बनने का कारण है, मेरा लेखक से अर्थात् पं. दीन दयाल जी से परिचित होना, परिचय ही नहीं, हमारा सहवास था, सहवास ही नहीं, हम एक विचारी एक ध्येयी तथा एक ही मार्ग के पथिक थे। हम अन्तरंग मित्र थे। अतः मेरा वह अनुवाद निरा भाषांतर नहीं है। वह एक प्रकार से उनके सहवास का आनन्द लूटना है। आखिर हर मनुष्य विचारों तथा भावनाओं का ही तो पुतला रहता है। अतः "राष्ट्र जीवन की दिशाएँ" का अनुवाद करते समय मुझे ऐसा लगा कि साक्षात् दीनदयाल जी ही मुझसे बोल रहे हैं।

अहाहा ! वे भी कैसे आनन्दप्रद दिन थे, उनके स्मरणमात्र से शरीर रोमांचित हो उठता है और मन आनन्द विभोर हो जाता है। संयोग कहें या पूर्वजन्म का पुण्य संचय का फल कहे, मेरा और दीनदयाल जी का घनिष्ठ सम्बन्ध आया और शीघ्र ही हम मित्र बन गए। उनके पत्र मैंने बहुत दिनों तक संजोये रखे थे। मुझे खेद है कि कालान्तर तथा स्थानान्तर में वे नष्ट हो गये। हमारे स्नेह का स्रोत था "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ"। वह हमारे जीवन का समान अधिष्ठान था। वही ध्येय श्रेय तथा प्रेय। वही ध्यान था और तदनुकूल जीवन क्रम था। अतः हमारा मित्र बनना स्वाभाविक था। "समानशीले व्यसनेषुसख्यम्।" यह सुभाषित प्रसिद्ध ही है। "भारत माता की जय", यह हमारा समानशील था और हिन्दूसमाज की कुंभकर्णवत् निद्रा, हमारा समान संकट था। तदर्थ ही हम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक बने थे।

सन् १९४२ में मैं स्वर्गीय श्री बाबासाहब आप्टेजी की प्रेरणा से थोड़े दिन के लिए विस्तारक के रूप में अपना घर छोड़कर चल पड़ा। उन्होंने मुझे लखनऊ भेजा। माननीय श्री भाऊराव जी देवरस ने मुझे गोरखपुर भेजा। गोरखपुर जिला प्रचारक माननीय श्री नानाजी देशमुख ने मुझे देवरिया पहुँचाया। उस समय देवरिया एक तहसील का स्थान था। वहाँ से मैं लखनऊ के संघ शिक्षा वर्ग में तीन स्वयंसेवकों को लेकर पहुँचा था। जहाँ तक मुझे स्मरण है, चन्द्रदेव, बुद्धदेव तथा रघुनाथ प्रसाद नाम के वे तीन स्वयंसेवक थे। देवरिया के ये स्वयंसेवक अभी नवयुवक या किशोर ही थे परन्तु बहुत बुद्धिमान, और सश्रद्ध। उन्हें देख आपटे जी बहुत प्रसन्न हुए। माननीय श्री दीनदयाल जी ने उन्हें बहुत सराहा अर्थात् साथ-साथ मेरी भी सराहना की गई। आपटे जी ने मुझे कहा, "भैय्या, ऐसे दस स्वयंसेवक यदि तुम निर्माण कर सको तो पूरे उत्तर प्रदेश का रंग ही हम बदल देंगे" दीनदयाल जी ने कहा था "भैय्या जी ने अपनी सहस्रबुद्धि के केवल तीन ही किरण बताये हैं।" उन दिनों उधर मेरे सहसबुद्धे उपनाम का भी बड़ा आदर किया जाता था।

लखनऊ का वह प्रथम शिक्षा वर्ग कालीचरण विद्यालय में हुआ था। वहाँ मेरी और दीनदयाल जी की प्रथम भेंट हुई। वे शिक्षार्थी थे और मैं उनका शिक्षक था। मैं उनके गण को छूरिका पढ़ाता था। दीनदयालजी शारीरिक व्यायाम में, लाठी भांजना आदि से अनभ्यस्त थे परन्तु बौद्धिक क्षेत्र में उनकी असाधारण प्रगति देख मैं चकित तथा प्रभावित हुआ। हम शीघ्र ही मित्रवत् मिलने बोलने लगे। उनका वाचन विस्तृत था और ग्रहण शक्ति तीव्र थी। उन्होंने अनेक हिन्दी लेखकों के साहित्य से मेरा परिचय कराया। उनके आग्रह से ही मैंने प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद आदि मूर्धन्य हिन्दी लेखकों के साहित्य का पठन अध्ययन किया। उन्हीं के द्वारा मुझे रामचरितमानस की विशेषताएँ अवगत हुईं। उन्हीं के मुख से हिन्दी की अनेक कहावतें मैंने सुनीं। खासकर घाग इस लोककवि के अनेक व्यवहारोपयोगी भी दोहे उन्हें कण्ठस्थ थे और उन्हें जब तब अवश्य सुनाते थे।

घाग कहे सुन घागुनी या गाँव में रहना
देर बिलय्या ले गई तो हांजी हांजी कहना

कभी वे कहते, "हाय ! कमबख्त तूने पीई ही नहीं!" किसी भी विषय पर क्यों न बोलो, तात्पर्य हिन्दू संगठन का ही निकलना चाहिये, यह समझाते समय वे कहते थे- "मारो कहीं, लगे वहीं!"

कभी वे कहते- अजब तेरी दुनिया अजब तेरा खेल

बंदर के सिर पर चमेली का तेल।।

कभी वे कहते-

दुनिया को बेवकूफ बनाने चले

हम भी उनमें जा मिले।।

"पानी तेरा रंग कैसा ? जिसमें मिलाया वैसा ।।"

रांड सांड सिढ़ी संन्यासी।

इससे बचे वो भोगे कासी।।

ऐसे न मालूम कितने चुटकुले वे सहज रूप में कह देते थे।

हास्य विनोदात्मक तथा व्यंग्यात्मक बाते कहने में वे कुशल थे। कभी-कभी अपनी बात वे रूपकात्मक ढंग से समझाते थे। डरपोक तथा निष्क्रिय व्यक्तियों के विषय में बताते समय वे एक चूहे की कहानी सुनाते थे। झूठी डींग हांकने वालों पर वे करारा प्रहार करते थे। चूहे ने कहा, यदि मैंने सोचा तो मैं क्या बाघ और क्या सिंह सबको समाप्त कर सकता हूँ। परन्तु मैं उन्हें उनके घर जाकर नही मारूँगा। उन्हें मेरे बिल में आने दो, एक क्षण में मैं उन्हें धर दबोचूँगा।"

न मालूम ऐसी कितनी कहानियों, कहावतें, रूपकथाएँ तथा चुटकुले वे नित्य सुनाते थे। उनके साथ गप्पें लड़ाते समय, समय का ध्यान नहीं रहता था। घंटों यों बीत जाते थे। उनके साथ की हुई सात्विक चर्चा मनोरंजक होती थी और हास्य विनोद बोधप्रद बनता था। सात्विकता, रचनात्मकता तथा क्रियाशीलता उनके स्वभाव के सहज रूप आयाम थे। इसी कारण उनके लिखे 'एकात्म मानवतावाद' को उपनिषदों का स्तर प्राप्त हुआ है।

उन दिनों हम लोग काशी में गोदौलिया चौक स्थित घटाटेजी के राममन्दिर में जुटते थे। वहीं उन दिनों संघ का प्रान्तीय कार्यालय था। हमारे प्रान्त प्रचारक माननीय श्री भाऊरावजी देवरस चार छः महिनों बाद हम लोगों को काशी में बुलाते थे। ग्वालियर से मैं चलता था। आगरा से प्रिय भाऊ जुगादे, लखीमपुर से दीनदयाल जी, प्रयाग से बापूरावजी मोघे, गोरखपुर से नानाजी देखमुख, लखनऊ-कानपुर से अनन्तराव जी गोखले ऐसे हम सब प्रचारक कार्यकर्ता काशी में एकत्र होते थे। वह तो आनन्दरूप मीलन ही था। नानाजी देशमुख का राग कौशल्य निराले ढंग का था। वे हर छोटे-बड़े

प्रसंग को अपनी रसमयी वाणी से साकार करते थे। भावनाओं को जागृत करने की उनमें सहज शैली थी। बापूरावजी का कथन प्रतिपादन तात्विक तथा बुद्धिनिष्ठ रहता था। मेरी वृत्ति अधिकतर चुपचाप सुनने की थी। प्रिय भाऊजी जुगादे थोड़ा बोलते थे परन्तु मार्मिक बोलते थे। उनका भाषण हास्य प्रेरक भी रहता था। दीनदयाल जी का भाषण सिद्धान्त शोधक तथा व्यावहारिक सूझबूझ लिये रहता था। अनन्तराव गोखले जी के भाषणों संभाषणों में मूलगामी प्रश्न उठाये जाते थे। उनका निरीक्षण सूक्ष्म रहता था। वे राष्ट्रवादी थे और कभी-कभी चुभती बातें भी कह देते थे। भाऊरावजी वैसे मितभाषी थे। वे सबका बोलना कहना शान्त चित्त से सुनते थे और अन्त में तात्विक आधारों पर समोराप करते थे। उनके निष्कर्ष तथा निर्णय सबको मान्य होते थे।

काशी के हमारे मुकाम में एकाद बैठक कमच्छा स्थित श्री दत्तराज कालिया जी के मकान में या प्रासाद में अवश्य ही होती थी। वहाँ कभी भोजन का आयोजन रहता था तो कभी अल्पाहार का। परन्तु किसी न किसी रूप में उनके आदरातिथ्य का लाभ हमें अवश्य मिलता था। दत्तराजजी रईस थे पर गर्वीले नहीं थे। वे धनाढ्य थे पर सादगी पसंद थे। उनकी संघ पर अपार निष्ठा थी। वे सबसे हिलमिलकर बातें करते थे। उनका घर हम सबका घर बन गया था। एक बार मैं काशी पहुँचने के बाद कुछ बीमार हो गया था। तब वे मुझे कार्यालय से अपने घर ले गये और उन्होंने मेरे लिये औषधि आदि का उत्तम प्रबन्ध किया। उस समय उन्होंने और उनकी पत्नी ने जिस आत्मीयता के साथ मेरी सेवा शुश्रुषा की वह मैं कभी नहीं भूल सकता।

जब हम काशी जाते थे तब हम संघकार्य विषयक, चर्चा, विचार विनिमय, बैठकें, बौद्धिक वर्ग आदि तो करते ही थे परन्तु साथ अनेक आमोद-प्रमोद के भी कार्यक्रम करते थे। गिर्रेबाज घोड़े के इक्के पर बैठकर हम सारनाथ जाते थे। रास्ते में कोने पर एक गुलाबजाम की विशेष प्रसिद्ध दुकान थी। वहाँ से मुलायम रसीले स्वादिष्ट गुलाबजाम हम अवश्य खाते थे।

एक सारनाथ यात्रा के समय पं.दीनदयाल जी ने जो भाषण दिया था वह आज भी मेरी स्मृति में तरोताजा है। उस समय के उनके भाषण का विषय थ, "गौतम बुद्ध और उनका महत्कार्य" उस भाषण के द्वारा उनका इतिहास विषयक प्रगाढ़ ज्ञान तो प्रगट हुआ ही, साथ-साथ उनके तुलनात्मक अध्ययन का भी परिचय प्राप्त हुआ। अपने भाषण का समारोप करते हुए उन्होंने कहा था, "संघ शरणं गच्छामि" ही तो बुद्ध धर्म का सार है। उसी को हमने स्वीकारा अंगिकारा है। अतः हमारा जीवन हमें

संघशरण, संघानुकूल संघपोषक बनाना चाहिये। हमें सम्पूर्ण भारत के हिन्दू समाज को सुसंगठित करना है। तदर्थ गौतम बुद्ध का चरित्र हमें नित्य पढ़ना चाहिये और उनके उपदेशों को हृदय में धारण करना चाहिये। धर्मं शरणं गच्छामि, बुद्धम् शरणं गच्छामि, संघं शरणम् गच्छामि को हमें चरितार्थ करना चाहिये। ध्यान् रहे कि आज के युग में संघ का अर्थ है, राष्ट्रीय स्वयंसवेक संघ।"

काशी निवास में हम विश्वनाथ जी के दर्शन तो करते ही थे, परन्तु साथ-साथ पीछे की मस्जिद की भी परिक्रमा करते थे। क्योंकि यहीं असल में विश्वनाथ जी का मन्दिर था। आज की उसकी भग्न अवस्था देखकर भी हम कल्पना कर सकते हैं कि किसी समय वहाँ कितना भव्य मन्दिर खड़ा होगा। उसे देख दीनदयाल जी अपनी शैली में कहा करते थे, "वे केवल मूर्ति भंजक नहीं थे, अपितु कलाभंजक, सौंदर्य भंजक, स्थापत्य भंजक, श्रद्धाभंजक और सद्धर्मभंजक भी थे।"

गंगास्नान, गंगाजी में तैरना, गंगा पार करना, यह मेरे प्रिय कार्यक्रम थे। बचपन से मैं अच्छा तैराक था। अतः गंगाजी में खूब आनन्द लूटता था और पुण्य जोड़ता था। अनेक बार हम लोग नौका में बैठ परतीर जाते थे और वहीं पर बैठकें करते थे। चर्चा करते थे, गीत गाते थे और पुण्य सलिल देव नदी का प्रवाह निहारते रहते थे। वहाँ के शुद्ध पवित्र वायु से तथा उच्च भावनाओं से अपने हृदय भर लेते थे।

एक बार भाऊरावजी ने मुझे और दीनदयालजी को रेत में कुश्ती खेलने को कहा। उस समय हम दोनों समायु और समान क्षीणकाय थे। बालू में हम प्रेम से लोटपोट होते रहे, एक दूसरे को रेलते-ढकेलते रहे। मैं बचपन में इन्दौर में व्यायामशाला में जाता था और कुश्ती भी खेलता था।

अतः दीनदयालजी को नीचे गिराकर मैं जब उनके सीने पर चढ़ने लगा तब भाऊरावजी ने हम दोनों हो हाथ पकड़कर ऊपर उठाया और कहा, दोनों पहलवान जीते गये। कुश्ती बराबरी में छूटी है।" जब दीनदयाल जी ने हँसते हुए कहा, "भय्या, तुम भले ही जीते होंगे, पर नाक तो मेरी ही ऊँची रही।"

कभी-कभी हम घंटे दो घंटे केवल नौकाविहार करते थे। उस समय वहाँ गपशप लडती थी, हास्य विनोद होते थे, महत्त्वपूर्ण विषयों पर चर्चा छिड़ती थी और वैयक्तिक या सामूहिक गीतगायन भी चलता था। दीनदयालजी नौकायन बहुत अजीब ढंग से कर लेते थे पता नहीं क्यों मुझे यह बिल्कुल नहीं सधता था। मैं जब पतवार मारता था, तब नौका उसी स्थान पर, गोलगोल फिरने लगती थी। तब मैं कहता, "यह असली

नौकाविहार है। हमे किसी मुकाम पर थोड़े ही जाना है ? तुम्हारा खेना मात्र केवट जैसा है।" यह हास्य विनोद भविष्य काल में प्रत्यक्ष में सत्य सिद्ध हुआ। दीनदयाल जी राष्ट्र के केवल केवट ही नहीं सफल कर्णधार बने। वे भारतीय जनसंघ के कार्यकर्ता ही नहीं, संगठक ही नहीं, अध्यक्ष भी बने।

बपचन से मुझे गंगाजी के अनेक स्तोत्र कण्ठस्थ थे। गंगाविहार करते समय अनेक बार मेरा मन हर्षोत्फुल्ल हो जाता था, भावोत्कट हो जाता था और मैं मुक्त कण्ठ से कहने लगता–

मातः शैलसुता सपत्निवसुधा श्रृंगारहारावलि।
स्वर्गारोहण वैजयन्तिभवतीम् भागीरथी प्रार्थये।।
त्वत्तीरे वसतस् त्वदम्वु पिवतस् त्वद्वीचिषू प्रेंखतस्।
त्वन्नामस्मरतस् त्वदर्पित दृशः स्यांम्ने शरीर व्ययः।।

यह वाल्मीकि जी का गंगाष्टक और दूसरा श्रीमद्शंकराचार्य विचरित गंगाष्टक मैं खड़े स्वर में गाता था। तब सब लोग आनंदविभोर हो उसे सुनते थे। दीनदयालजी कुछ श्लोक मुझे बार-बार कहने का आग्रह करते थे। उनका यह श्लोक प्रेम देख मैंने उन्हें "वृहत् स्तोत्ररत्नाकर' नाम का ग्रन्थ भेंटस्वरूप दिया था।

श्रीशंकराचार्यजी का एक गंगास्तोत्र इस प्रकार है।

देवि सुरेश्वरि भगवति गंगे, त्रिभुवन तारिणि तरल तरंगे।
शंकरमौलि विधारिणी विमले, मममतिरास्तां तव पदकमले।।

शीघ्र ही दीनदयाल जी ने उन दोनों स्तोत्रों को याद कर लिया। फिर हम दोनों उन्हें सम्मिलित स्वर में गाते थे। तब हमारा गंगाविहार का आनन्द दुगुना चौगुना हो जाता था। शंकराचार्य जी के दोनों गंगा स्तोत्र जितने श्रुतिमधुर हैं उतने ही हृदय स्पर्शी हैं। उच्च भावनाओं को जागृत करने वाले है तथा विशाल दृष्टिकोण प्रदान करने वाले हैं। उनके अर्थ पर चर्चा करते समय हमें गुप्त गूढार्थ की उपलब्धि होती थी। इसी काल में श्रीशंकराचार्य के आकाशोपम चरित्र ने उन्हें मोहित किया और उनकी दिव्य भव्य प्रतिभा उनके मन में साकार हुई। शंकराचार्य के जीवन में उन्होंने हिन्दू धर्म का साक्षात् दर्शन पाया। विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, त्याग सेवा, कर्तव्य तथा प्रभावशीलता इन सब गुणों का समुच्चय उन्होंने शंकराचार्य में देखा। जगदुद्धार के लिये तड़पने वाले और तदर्थ अखण्ड भ्रमण करने वाले भारत की परिक्रमा करने वाले शंकराचार्य को उन्होंने देखा।

शंकराचार्य के संगठन और कौशल्य से तथा परिश्रमों की पराकाष्ठा से अभिभूत होकर वे शंकराचार्य की जीवनियाँ तथा उनका लिखा साहित्य पढ़ने के लिये उद्यत हुए। उन्होंने मन ही मन शंकराचार्य का चरित्र लिखने का निश्चय कर लिया। शंकराचार्य में उन्होंने हिन्दुत्व का सारांश देखा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का आधार देखा और उनके रूप में एक आदर्श स्वयंसेवक तथा संघ का प्रचारक उनके हृदय फलक पर चित्रित हुआ। उसी को आगे चलकर उन्होंने शब्दबद्ध किया और अंशरूप दिया। उनका लिखा वह चरित्र एक साथ विद्वत् मान्य तथा- रसिकप्रिय बना। अनेक कार्यकर्ताओं का वह प्रेरणा स्थान बना।

काशी के हमारे मुकाम में, रात के भोजनोपरान्त हम एक विशिष्ठ पानवाले के पास अवश्य पहुँचते थे। वह अफीम के नशे में चूर रहता था। वह झूमते झूमते धीरे से एक पान उठाता था और उसी ढंग से उसे चूना कत्था आदि लगाता था। हम उसे जल्दी दो भाई कहते थे, उसकी अवस्था पर टीका टिप्पणी करते थे और उसका मस्ती के साथ डोलना देख खूब हँसते भी थे। परन्तु इन सब बातों का उस पर कोई भी असर नहीं पड़ता था। दीनदयाल जी हँसते हुए कहते थे, इसे तो हमें अपना आदर्श मानना चाहिये, कोई कितना भी क्यों न हँसे और तीखी टीकाटिप्पनी करे, हमे उस ओर सदैव दुर्लक्ष करना चाहिये।

मिर्जापुर और गाजीपुर में मैं और दीनदयालजी एक साथ रहे। एक बार पाँच दिन और एक बार सात दिन हमारा सहनिवास हुआ। भाऊरावजी ने हेतुतः मुझे बुलाया और दीनदयाल जी के साथ रहने के लिये कहा। दीनदयालजी को लेखनकार्य में प्रोत्साहन देना, उनसे तदनुकूल चर्चा करना, तदर्थ योग्य वायुमण्डल बनाना मेरा कार्य था। गंगा तट पर भ्रमण करना, चन्द्रगुप्त, चाणक्य तथा शंकराचार्य की जीवनियों पर चर्चा करना, वे किस समय कैसे बरते होंगे, क्या बोले होंगे, इसकी कल्पना करना, एक दूसरे को ग्रन्थ पढ़कर सुनाना, टिप्पणियाँ लिखना, उत्स्फूर्त हांस्यविनोद करना आदि में हम रातदिन जुटे रहते थे। वह भी मेरे लिये एक प्रकार का पुण्यदायक, गंगास्नान ही था।

दीनदयाल जी का रहन-सहन बहुत सादा था। वे सरल स्वभावी थे। अहंकार तो उनके पास नाममात्र भी नहीं था। निश्चित ही वे मेरी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान थे। उनकी स्मरण शक्ति, धारण शक्ति तथा विश्लेषण शक्ति अलौकिक थी। वे मुझे बड़प्पन देते थे और पूछते थे, चाणक्य और चन्द्रगुप्त का सम्पर्क कहाँ और कैसे आया होगा ?

चन्द्रगुप्त की प्रगति कैसी हुई होगी ? चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के मन तथा बुद्धि को सजाया इसे कहाँ तक सच मानना चाहिये ? तुम्हारा इस विषय में क्या मत है ?

हरिनारायण आपटे मराठी के महान उपन्यासकार है। उनका 'चन्द्रगुप्त' उपन्यास सुप्रसिद्ध है। मैंने उसे केवल पढ़ा ही नहीं था, परीक्षा की दृष्टि से उसका सूक्ष्म अध्ययन भी किया था क्योंकि वह पुस्तक हमारे एम.ए. के अभ्यासक्रम में थी। अतः उस उपन्यास में वर्णित अनेक प्रसंग मैंने दीनदयाल जी को सुनाये। दीनदयाल जी ने उन सब बातों का अच्छा खासा उपयोग कर लिया। वे बहुत बोलते थे बहुत चर्चा करते थे परन्तु जहाँ एक बार उनके विचार स्थिर हो जाते थे वहाँ बोलना तो बन्द होता ही था, वे खाना-पीना भी भूल जाते थे और लगातार घंटों लिखते रहते थे। तब मैं भी सावधानी बरतता था और उनकी लेखन समाधि में बाधा नहीं पहुँचने देता था। उनकी वह सरस्वती में तन्मय मूर्ति आज भी मेरी आँखों के सामने साकार होती है और मुझे प्रेरणा देती है। 'राष्ट्रधर्म' और 'पांचजन्य' में उन्होंने जो श्रेष्ठ स्तरीय लेखन किया उसका रहस्य इसी तन्मयता में है।

संघ में प्रतिमाह बौद्धिक वर्ग होता है। उसमें कोई ना कोई कार्यकर्त्ता संघ के आधारभूत तत्त्वों का प्रतिपादन करता है।उन सबकी उसी समय टिप्पणी ली जाती थी और बाद में उसे लेखबद्ध किया जाता था। यह परिपाटी प्रारम्भ से ही चली आ रही है। उन दिनों टेपरिकार्डर आदि साधन नहीं थे। श्री गुरुजी के भाषण लम्बे होते थे और उनकी गति भी तेज होती थी।उनके भाषण ज्यों के त्यों लिखना बड़ा कठिन था। तब उस हेतु दीनदयाल जी ने एक नई पद्धति चलाई। उसका नाम है "टकटक पद्धति" हम चार शीघ्र लेखन गति वाले स्वयंसेवक गोल बाँधकर बैठते थे और चार छह वाक्य पकड़ लेने के बाद पड़ोस वाले को अपनी पेन्सिल के टकटक आवाज करते हुए सूचना देते थे कि भाई अब आगे तुम लिखो। इस प्रयोग के सहारे श्रीगुरुजी के विद्वत्तापूर्ण लम्बे भाषण हम वाक्यशः और शब्दशः लेखबद्ध कर देते थे। इस प्रकार के अनेक छोटे बड़े कार्यों में दीनदयालजी अपनी बुद्धि की चमक दिखाते थे।

सन् १९४५ में लगभग हम दोनों प्रान्त प्रचारक मा. भाऊरावजी के सहप्रान्त प्रचारक के रूप में कार्य करने लगे। दीनदयालजी पूर्वभाग के प्रमुख थे और मैं ग्वालियर आगरा आदि का पश्चिम भाग संभालता था। संघकार्य दिन दुगना रात चौगुना कहते हैं उस प्रकार बढ़ रहा था। अनेक कांग्रेसी जनों के यहाँ तक कि नेताओं के और मन्त्रियों तक के पुत्र, भतीजे या भांजे शाखा में आने लगे थे। तब प्रान्तिक बैठकों में

या संघशिक्षा वर्गों में हम मिलते थे और अनुभवों का तथा सारभूत विचारों का आदान-प्रदान करते थे। संघकार्य में हम लोग तन मन धन से जुटे थे। हमारे आनन्द की सीमा नहीं थी।

तभी एकाएक सिर पर पहाड़ टूट पड़ा। ३० जनवरी,१९४८ ईसवी को दिल्ली में महात्मा गाँधी की हत्या हो गयी। उसका दोष संघ के माथे मढ़कर पाबन्दी लगाई गई। हजारों निरपराध सात्विक निस्वार्थी देशभक्तों को कारागार में ठूँस दिया गया। गाँधीजी के देह के साथ उनके सत्य अहिंसा आदि तत्त्व उनके अनुयायी कहलाने वालों ने जला दिये। छोटे से लेकर बड़े-बड़े नेता तक रात दिन झूठ बोलने लगे और संघ पर तरह-तरह की बेबुनियाद तया मनगढंत टीका-टिप्पणी करने लगे।

गाँधी हत्या के बाद संघ की दैनंदिन शाखायें बंद हो गईं। परमपूजनीय सरसंघचालक श्री माधवरावजी गोलवलकर उपाख्य श्री गुरुजी ने वैसा ही आदेश स्वयंसेवकों को दिया। शाखायें बन्द हो गई परन्तु स्वयंसेवकों के हृदयोर्मियों को कौन बन्द कर सकता था ? वे विविध नाम और रूप लेकर प्रकट होने लगी। स्थान-स्थान पर असंख्य खेल, व्यायाम, गोष्ठी, चर्चा, व्याख्यान, भजन आदि की छोटी-बड़ी संस्थाएँ खुल गईं और दीनदयालजी की 'मारो कहीं, लगे वहीं' वाली बात प्रत्यक्ष में उतारी गई।

कारागार में जाते समय श्री भाऊरावजी ने पूरे प्रान्त का उत्तरदायित्व मुझ पर सौंपा था। दीनदयालजी मेरे सहयोगी थे ही। उन दिनों में हमने जो अनेक उद्योग किये, उसमें से एक था, नेता लोगों से तथा गणमान्य नागरिकों से मिलना, उन्हें संघकार्य समझाना और संघ पर लगी अन्याय्य पाबन्दी हटाने के लिए कहना। मैं और दीनदयालजी हम दोनों अनेकों से मिले परन्तु उनमें से एक प्रमुख नाम है, सर तेजबहादुर सप्रू का। वे उन दिनों रुग्णशय्या पर थे। ऐसी अवस्था में भी उन्होंने हमें समय दिया। उन्होंने हमारी बातें शान्त चित्त से सुन ली। उन्होंने अनेक प्रश्न पूछे और खुले दिल से बातें की। यहाँ यह कहना उचित होगा कि बोलने समझाने का सम्पूर्ण कार्य दीनदयालजी ही कर रहे थे। मैं मूक श्रोता मात्र था। दोनों के मुख चर्चाओं के भाव ताव मैं सूक्ष्म दृष्टि से निहारता था।

किसी समय तेजबहादुर सप्रू का भारतीय राजनीति में बहुत ऊँचा स्थान था। अंग्रेजी शासन तथा नेतागण, दोनों को वे विश्वसनीय प्रतीत होते थे। वे बुद्धिमान तो थे ही, जनहित की श्रेष्ठ भावना भी रखते थे। मैं तो उनका नाम सुनकर ही घबड़ा गया

था। परन्तु कर्त्तव्य बुद्धि से छोटे-बड़े सबको मिलना निश्चित था, परिणाम की कोई भी चिन्ता न करते हुए हम सर साहब के पास पहुँचे।

दीनदयालजी का बोलना साफ-साफ रहता था। कहीं कोई शंका न उपजे इस ढंग से वे बोलते थे। उन्होंने सर्वप्रथम स्वयं का तथा मेरा, सरसाहब को परिचय करा दिया। तदुपरान्त उन्होंने कहा, "हम आपसे मार्गदर्शन प्राप्त करने हेतु आपके पास पहुँचे है। बीमार होते हुए भी आपने हमे समय दिया इसलिये हम आपके बहुत आभारी है।"

सर साहब ने कुछ निराशा भरे स्वर में कहा, "तुम देख रहे हो, मैं रुग्णशैय्या पर पड़ा हूँ, न चल फिर सकता हूँ न कुछ कर सकता हूँ। मैं भला तुम्हें क्या मार्ग बताऊँगा ?"

दीनदयालजी ने कहा, "आपने आज तक बड़े-बड़े मसले हल किये हैं और अनेक जटिल समस्याओं का हल निकाला है। आपके सुझाव अंग्रेजी शासन ने भी स्वीकारे हैं और जन नेता तो आप पर शतप्रतिशत भरोसा करते रहे हैं। हम बड़ी आशा से आपके पास आये हैं। आप का शरीर अस्वस्थ है परन्तु आपकी बुद्धि तथा सद्भावना आज भी कार्यक्षम है। आपका अनुभव असाधारण है तथा सूझबूझ अतुलनीय है। इसीलिए हम आपके पास आये हैं। हम संकट में फँसे है। हम पर अन्याय हुआ है। संगठन का, मिलने-जुलने का सामान्य अधिकार हमसे छीन लिया गया है। आप बताइये कि इस परिस्थिति में हम क्या करें ?

किन-किन से मिलें ? लड़ाई करें तो किस ढंग से करें ? अब यह अपनी ही सरकार है इस लिये प्रश्न और पेचीदा हो गया है। इसीलिये हम आप के पास पहुँचे हैं। बताइये हम क्या करें ? कैसे करें ?"

दीनदयाल जी का बोलना लिखना स्पष्ट था उतना ही विनम्र था। वह उनकी हृदय वेदनाओं को प्रकट कर रहा था। उन सबका सरसाहब पर योग्य प्रभाव पड़ा। आजकल उन्हें कोई भी नहीं पूछता था। यह बात उन्हें चुभती थी। कदाचित्त इसीलिये हमारे मिलने से उन्हें बड़ा संतोष हुआ। वह हमें उनकी मुख मुद्रा पर दिखाई दिया।

उन्होंने कहा, "समाचार पत्रों में संघ के बारे में जो कुछ आया है उस पर आधारित ही मेरा संघ विषयक ज्ञान है। समाचार इकतरफा छापते हैं, पक्षपाती ढंग से लिखते हैं, इसकी मुझे कल्पना है। समाचार पत्र तथा शासक पक्ष के नेतागण कुछ भी कहते हों, मेरा यह मत है कि संघ पर पाबन्दी लगाना अवैध है और अन्यायकारक है।

न्याय, जनतन्त्र, देशहित, नागरिकों के मूलभूत अधिकार आदि सब दृष्टि से संघ पर, प्रतिबन्ध लगाना सर्वथा अयोग्य है। न वह कांग्रेस के हित का और न जवाहर के। परन्तु आप देख रहे हैं कि मैं इस प्रकार बिस्तर पर पड़ा हूँ। मृत्यु के दिन गिन रहा हूँ समझिये। मैं क्या किसी से कहूँगा ? और कौन मेरी सुनेगा ? स्वातन्त्र्य प्राप्ति के परिणामस्वरूव वस्तुतः सामान्य जन को शूरवीर बनना चाहिये परन्तु वे डरपोक बने हैं। नेताओं को उदार बनना चाहिये परन्तु वे सीमित बुद्धिवाले, संकुचित तथा स्वार्थी बन गये हैं। जवाहरलाल को निपटस्वार्थी जनों ने तथा हाँजी-हाँजी करने वालों ने घेर रखा है। ये लोग मात्र उसका अहंकार बढ़ाते हैं। कांग्रेस में सब दंभी, और मतलबी लोग घुस गये हैं। उनका वहाँ वर्चस्व है। जवाहर को अपने पद की मस्ती चढ़ी है। वह न किसी की सुनता है न किसी को मानता है। इसीलिये हमारे देश के अनेक बुद्धिमानों का तथा कर्तृत्ववानों का वह सहयोग न पा सका। देश की सब शक्तियों को समेटने की न उसमें दृष्टि है न वृत्ति है। आप लोगों को मैं इतना ही कहूँगा कि तुम्हारा कहना सत्य है। तुम्हें संगठन का हक हैं। उसे छीनना गलत है। मैं सोचता हूँ कि तुम इस संकट से मुक्त होंगे और अपना कार्य पूर्ववत् चलावोगे। तुम नेताओं से अवश्य मिलो परन्तु उसका विशेष उपयोग नहीं होगा क्योंकि जवाहर के सामने सब भीगी बिल्ली बन जाते हैं। तुम्हें आन्दोलन ही करना होगा। जनता को जगावो, समझावो और सबको अपने मूलाधिकारों का ज्ञान करावो। आन्दोलन शान्तिमय रहे। उसे हिंसा का स्पर्श न हो। कहीं भी मारकाट न मचे। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी एक दिन विजय होगी।...."

हम दोनों ने उन्हें झुककर प्रणाम किया। उनकी मुद्रा प्रारम्भ की अपेक्षा प्रसन्न थी। हमें अनुभव हुआ कि हमारी यह भेंट ठीक रही, सफल रही। सर तेजबहादुर सप्रू के विषय में हम बाद में दो दिन चर्चा करते रहे। नेहरू जी का एकवचनात्मक उल्लेख मुझे बहुत मजेदार प्रतीत हुआ। फिर नेहरुजी की इतनी कड़ी आलोचना करने वाला कोई होगा इसकी भी मुझे कल्पना न थी। इस छोटी सी भेंट में दीनदयालजी के अनेक गुण स्पष्ट से दिखाये दिये। उनका बोलना तर्क शुद्ध तथा क्रमबद्ध था। बड़ा विषय वे बहुत कुशलता से संक्षेप में प्रस्तुत करते थे। सामने वाले को बखूबी अनुकूल बना लेना भी वे खूब जानते थे।

दूसरे ही दिन हम जस्टिस दर को मिले। वे भी वृद्ध तथा अनुभवी थे। वे भी जवाहरलाल जी को एकवचन में संबोधित कर रहे थे। उन्होंने कहा, "जवाहर आता है

तब मुझसे जरूर मिलता है। मैं उसकी गलती के बारे में उसे समझाऊँगा।"

इन दिनों में हम अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से मिलते रहे। दीनदयाल जी के संभाषण चातुर्य का तथा प्रभावी वक्तृता का मुझे हर बार नया नमूना दिखाई पड़ रहा था। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं परन्तु उन सबकी अपेक्षा हमारी सम्पूर्णानन्द जी से भेंट हुई उसे यहाँ शब्दांकित करना मैं उचित समझूँगा। उनसे हम रेल के डिब्बे में मिले थे। वह एक संयोग ही था। वे प्रथम श्रेणी के डिब्बे में थे। हम भी उस डिब्बे में चढ़े और उनके पास जा बैठे। हमने उन्हें झुककर प्रणाम किया। दीनदयालजी ने स्वयं का और मेरा परिचय उन्हें दिया। जिससे मिलना हो उसके विषय में पूर्ण जानकारी रखना कितना लाभकारी होता है यह मैंने उस भेंट में देखा। सम्पूर्णानन्द जी का कर्तृत्व, उनके विचार, उनकी पुस्तकें, लेख आदि उनकी सब बातें दीनदयाल जी को अवगत थीं। उनसे बोलते समय दीनदयाल जी ने उनके लेखों के अनेक वाक्य उन्हें ज्यों के त्यों सुनाये। जहाँ तक मेरा ख्याल है उन्हें सुनकर सम्पूर्णानन्दजी भी चकित और प्रभावित हुए। प्रारम्भ में सम्पूर्णानन्द जी का रुख कुछ तीखा और कड़वा ही था, वे संघ पर लगाये जाने वाले रटे रटाये पिटेपिटाये आक्षेप दोहराने लगे। दीनदयालजी ने उन सबके सप्रमाण उत्तर दिये। धीरे-धीरे सम्पूर्णानन्द जी की मुद्रा बदल गई। वैसे वे काले रंग के थे और उनकी मुखमुद्रा नित्य उग्र ही रहा करती थी। परन्तु अब उस पर प्रसन्नता की सूक्ष्म लहर दौड़ने लगी। दीनदयालजी ने संघ निर्माता डॉ. हेडगेवार जी का चरित्र उन्हें संक्षेप में सुनाया और शाखाओं में, चलने वाले कार्यक्रमों से भी अवगत कराया। सब कुछ सुनकर तथा अपने प्रश्नों के योग्य उत्तर पाकर वे कुछ संतुष्ट हुए। उन्होंने कहा, "मैं तुम्हारे लिये क्या करूँगा और क्या कर सकूँगा यह मैं अभी तो नहीं बता सकता परन्तु कुछ न कुछ ऐसा अवश्य करूँगा जिससे तुम्हारे ऊपर बीता अन्याय दूर हो सके।

तब दीनदयालजी ने उन्हें कहा, "तब एक ओर प्रार्थना मैं आपसे अवश्य करूँगा। इसे आप 'तुम्हारा' कार्य न कहें। यह देश का कार्य है अतः हम सबका कार्य है। हिन्दू समाज का यह कार्य है। आप इसे अपना समझिये।"

इस पर सम्पूर्णानन्दजी खिलखिलाकर हँस पड़े और उन्होनें कहा, "अच्छा भाई, समझ गया और आपके वाक्चातुर्य को भी मान गया।"

हमें कानपुर में उतरना था अतः हमने सम्पूर्णानन्द जी से बिदाई ली। हमें लगा कि यह हमारी भेंट पूर्णतः सफल रही। एक प्रकार से एक प्रखर विरोधी को हमने जीत

लिया था।

इसके बाद दीनदयालजी अधिकतर दिल्ली में रहने लगे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की लिखित घटना करनी थी। उसका प्रारूप बनाने का कार्य उन्हें सौंपा गया था। तदर्भ उन्होंने विविध संस्थाओं की घटनाओं का अध्ययन किया। वे कहते थे, 'घटना का अर्थ है, नियमावलि। संघ जैसी विराट संगठन की रीति-नीति के नियम न हो यह कैसे हो सकता है ? हमारी अपनी सुन्दर, बेजोड़, सबसे निराली और उत्तम पद्धति है। उसी को युगानुकूल रूप देकर हम शासन को प्रस्तुत करेंगे।" दीनदयालजी के साथ संघ के अनेक प्रमुख कार्यकर्ता नित्य बैठते थे, विचार विनिमय करते थे।

इसी काल में वे पकड़े गये। उनका कारावास का काल उन्हें और भारत वर्ष को बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ। वे वहाँ पर रात दिन चिंतन में डूबे रहते थे। उनके एकात्म मानवतावाद का बीज इसी समय उनके मस्तिष्क में प्रकट हुआ ऐसा कहा जाता है।

जीवन के हर क्षेत्र में संघ का प्रभाव पड़े ऐसी प्रारम्भ से ही संघ निर्माता डॉ. हेडगेवार जी की कल्पना थी। संघ का प्रत्येक स्वयंसेवक कर्तृत्ववान तथा नेतृत्व के गुण लिये हुए हो, हरेक के पीछे सौ अनुयायी हो ऐसी उनकी अपेक्षा थी। देश का परिस्थिति के अनुसार राजनीतिक क्षेत्र में अपना रंग जमाना संघ की दृष्टि से अर्थात् देशहित की दृष्टि से आवश्यक हो गया था। श्रीगुरुजी ने प्रमुख कार्यकर्त्ताओं के साथ विचार विनिमय किया और डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी से भी बातचीत की। फलस्वरूप-भारतीय जनसंघ नामक एक नया राजनीतिक पक्ष उत्पन्न हुआ। पं० दीनदयाल जी उपाध्याय उसके संगठन मन्त्री बने और बाद में अध्यक्ष पद की धुरा भी उन्होंने संभाली। परन्तु किसी भी समय वे अपना स्वयंसेवकत्व नहीं भूले।

कदाचित् यह आगरा की घटना है। जनसंघ के कार्यकर्त्ताओं की बैठक चल रही थी। किसी महत्वपूर्ण विषय पर चर्चा हो रही थी। समोराप पं. दीनदयालजी को करना पूर्व निश्चित था। परन्तु एकाएक दीनदयालजी गायब हो गये। कहाँ गये कहाँ गये ? पूछताछ हुई। तब तक दीनदयालजी आ पहुँचे। सभाध्यक्ष ने पूछा कहाँ गये थे भाई ? मैं चिन्ता में पड़ गया। बहस काफी हो गई अब आपको ही बोलना है। पर आप गये कहाँ थे ?

दीनदयालजी ने कहा "समारोप का भाषण देने के लिये जो प्रेरणा चाहिये वह लेने गया था।"

"मतलब ?" अध्यक्ष जी ने पूछा।

दीनदयालजी ने कहा, "मतलब यह कि प्रार्थना के लिये संघ स्थान पर गया था। वहाँ जाकर भगवाध्वज को प्रणाम करते ही हृदय में प्रकाश भर जाता है और प्रार्थना कहते कहते सब विकट समस्याएँ सुलझ जाती है। इसीलिये कितनी भी हड़बड़ी हो मैं प्रार्थना के समय शाखा में अवश्य पहुँचता हूँ।"

दीनदयाल जी ने अपने स्वयंसेवकत्व में कभी ढिलाई नही आने दी। संघ ही हमारे हर कार्य का आधार है और संघ ही हमारे जीवन मन्दिर का कलश है ऐसी उनकी दृढ़ श्रद्धा थी।

यह एक संघ शिक्षावर्ग में घटित प्रसंग है। उस समय जनसंघ की अभी-अभी स्थापना हुई थी। उसके बाद का वह पहला ही चुनाव था। स्थान-स्थान पर अनेक प्रत्याशी खड़े किये गये थे। चुनाव हो गये थे परन्तु अभी निर्णय घोषित नहीं हुये थे।

भोजनोपरान्त दीनदयालजी जब हाथ धोने पहुँचे तब वहाँ पानी देने वाले स्वयंसेवक ने उन्हें पूछा, "पंडित जी, यह बताइये कि चुनाव में अपने कितने लोग जीत पायेंगे ?"

दीनदयालजी ने झट से कहा, "अपने शब्द से तुम्हारा क्या मतलब है ? यदि अपने शब्द से तुम्हारा संकेत जनसंघ की ओर है तब जनसंघ के दो चार भी यदि जीत जाते हैं तो मैं कहूँगा कि हमने बाजी मार ली। परन्तु यदि 'अपने' शब्द के पीछे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ है तो यह कहना उचित होगा कि जो भी जीते हैं वे सब अपने हैं। भला वे किसी भी पक्ष के क्यों न हों संघ के लिये वे सब अपने हैं। ध्यान में रहे कि जनसंघ एक राजनीतिक संस्था है। परन्तु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पक्षातीत है। वह भाषा, प्रान्त, पंथ, सम्प्रदाय आदि के परे हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सब प्रदेशों के सब पक्षोपपक्ष के लोगों को अपना मानता है, और सबको स्वयंसेवक बनाना चाहता है।"

दीनदयालजी की धारणाएँ इस प्रकार सुस्पष्ट थीं। विभिन्न राजकीय पक्षों ने राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर परस्पर को सहकार्य देना चाहिये और एक दिल से काम करना चाहिये ऐसा उनका कहना था। यदि एक पक्ष कहता है कि सूरज पूरब में उगता है तो दूसरे पक्ष के लिये यह कहना आवश्यक नहीं है कि "नहीं वह तो पश्चिम में उगता है।" भले ही तरीके अलग अलग हों परन्तु सब पक्षों का ध्येय एक ही होना चाहिये, भारत वर्ष को समुन्नत करना।"

परन्तु राजनीतिक पक्ष किस प्रकार आपस में लड़ते है और उससे देश को जो हानि पहुँचती है उसका थोड़ा भी विचार नहीं करते यह समझाते समय वे एक मजेदार उदाहरण देते थे। एक साधु थे। उनके दो चेले आपस में नित्य झगड़ते रहते थे। अतः साधुमहाराज ने उनके सब छोटे बड़े कामों का बँटवारा कर दिया था। दोपहर में भोजनोपरान्त साधु महाराज विश्राम लेते थे। कुछ वाम कुक्षी करते थे। तब दोनों शिष्य उनके पैर दबाते थे। उनमें भी बंटवारा था। एक दाहिना पैर दबाता था तो दूसरा बायाँ दबाता था। आदमी नींद लेते समय पैरों की मनचाही हलचल ही करता रहता है। तदनुसार जब एक बार साधु महाराज ने अपना दाहिना पैर बांये पर चढ़ाया, तब बाँये पैर वाला शिष्य नाराज होकर बोला, "देख रे ! तेरा पैर मेरे पैर पर आ गया है, यह ठीक नहीं है। ले, सँभाल तेरा पैर!"

"उस सत्शिष्य ने वह पैर उठाकर बाजू में पटका और तत्परता से अपने हिस्से का पैर दबाने लगा। परन्तु थोड़ी देर बाद फिर से जब दाहिना पैर बाँये पैर पर आया तब उस शिष्यवर से नहीं रहा गया। वह तपाक से उठा, उसने कोने में रखी लाठी उठाई और दाहिने पैर पर दे मारी। उसने यह नहीं सोचा कि पैर असल में किसका है और मैं किसे मार रहा हूँ। हमारे राजनीतिक पक्षोपपक्ष इसी ढंग से ताव में आ जाते हैं और देश को नुकसान पहुँचाते है।"

दीनदयालजी की सत्यव्रती, सत्यखोजी तथा सत्प्रतिपादक थे। उनके सब ग्रन्थों में उन्होंने सत्य का मण्डन किया है और असत्य का खण्डन किया हैं। सत्य ही उनके जीवन का अधिष्ठान था। उसी का वे प्राणपण से प्रचार प्रसार करना चाहते थे। बचपन से ही उनकी वैसी प्रवृत्ति थी। उनके बाल्यकाल का एक उदाहरण यहाँ दिया जा सकता है। एक बार उनके मामा ने उन्हें सागभाजी ले आने के लिये बजार भेजा। "दीनू" ने भाजी खरीदी, पैसे दिये और वह चार ही कदम बढ़ा होगा तब वह ठिठक गया। उसने देखा उसके पास जो पैसे थे उसमें एक बिल्कुल चिकना चुपड़ा, घिसा हुआ, न चलने वाला पैसा था। वही उसने भाजी वाली बुढ़िया को दिया था। बुढ़िया ने बिना देखे उसे रख लिया था।

'दीनू' को यह बात खली, चुभी, अतः वह फिर से उस भाजी वाली के पास गया और उसने उसे कहा, 'माई', मुझे खेद है कि मैंने तुम्हें झूठा पैसा दिया है। कृपया वह मुझे लौटा दो और यह ठीक पैसा रख लो"

बुढ़िया ने पैसों की ढेरी में थोड़ा देखा, परन्तु उसे चिकना पैसा नहीं मिला,

उसने कहा, "रहने भी दो, अब में उसे कहाँ ढूँढूगी ?"

दीनू ने कहा, "नहीं माई, वैसा करने से मुझे पाप लगेगा।" दीनू ने स्वयम् वह झूठा पैसा ढूँढ निकाला और बुढ़िया को उसके बदले अच्छा पैसा दिया। बुढ़िया उस बच्चे की ओर देखती ही रह गई। उसने कहा, 'बेटा लगता है, तुम सत्ययुग के हो, गलती से इस कलियुग में जन्मे हो। ईश्वर तुम्हारा भला करे"।

बात सही थी। दीनदयालजी सत्ययुगी थे। वे भारतवर्ष में ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व में सत्ययुग लाने के लिये कटिबद्ध थे। जब चारो ओर झूठे का बोलबाला था तब वे ललकार कर कहते थे- "सत्यमेव जयते, नानृतम्!" राजनीति का अर्थ है, झूठाई, ठगाई, स्वार्थाई और तदर्थ चलने वाली मनचाही। दीनदयालजी ने इस सबको बदल दिया और गरजकर कहा, "नही, यह हिन्दू राष्ट्र है। यहाँ किसी भी प्रकार की असत्यता नहीं पनपेगी। हर क्षेत्र में हम सत्य के बीज बोएँगे, तदर्थ प्राणप्रण से प्रयास करेंगे।"

जिस प्रान्त में हिन्दू का कड़ा विरोध था, वहाँ वे जानबूझकर गये और उन्होंने वहाँ भारतीय जनसंघ का अधिवेशन सम्पन्न किया। रावणों के दरबार में उन्होंने अंगद जैसा अपना पैर रौंपा। झूठे सिक्के न चलने देंगे यही उनके जीवन का सारांश था और यही उन्होंने सबको दिया हुआ संदेश था।

उनकी मुत्यु के चार मास पूर्व ही हम अकोला के संघ शिक्षावर्ग में मिले थे। तीन दिनों तक हम एक साथ उठे बैठे, जीमें, घूमे और जी भरकर बातें की। खूब हास्य विनोद करते रहे। नये पुराने विषय एक दूसरे को सुनाते रहे। उनका दिलखुलास हास्य आज भी मैं स्मरता हूँ और हृदय से टीस उठती है। अकोला के बौद्धिक वर्ग में चिति अर्थात् भारत की आत्मा इस श्रेष्ठ विषय का उन्होंने उत्तम विवेचन किया। उसके समारोपात्मक अंश में उन्होंने कहा था, 'इस भारत की आत्मा को देखने पहिचाननें वालों की आज नितान्त आवश्यकता है। यह निर्माण कार्य सर्वश्रेष्ठ है। यही संघ करना चाहता है।यह कार्य नारेबाजी से, घोषणापत्र से, व्याख्यानबाजी से, सभाओं से अथवा चुनावों से नहीं बन सकता। यह कार्य ठीक से सम्पन्न हो इसलिये ग्रामग्राम तथा नगर-नगर में स्वस्थ एवम् सुन्दर संघ शाखाएँ चलानी होंगी। यह कार्य हमें तन मन धन से करना होगा। हमें भारत की आत्मा से एकरूप बनना होगा। हमारे सम्मुख आज संकटों के पहाड़ खड़े हैं। परन्तु भगवान कृष्ण से एकरूप होकर हम गिरिधारी बन सकते हैं, और समस्याओं के पहाड़ों को हम तिनके जैसा फेंक सकते हैं। यही,

स्वयंसेवक का, शाखा का तथा संघ का मन्तव्य है, और गन्तव्य है।"

उनके करुण अन्त का जब भी स्मरण आता है, तब शरीर रोमांचित हो उठता है, हृदय पसीजता है और आँखों से अश्रु झरने लगते हैं। न मालूम कितनी बार हम मुगलसराय गये होंगे। हमने कभी कल्पना ही नहीं की थी कि माननीय श्री दीनदयालजी की, इस महान लेखक की, चिंतक की, मेरे मित्र की यह मरणभूमि बनेगी। रेल पटरी के पास पड़ा हुआ उनका वह प्राणहीन छिन्न-विच्छिन्न देह जब आज भी आँखों के सामने आता है तब हृदय वेदनाओं से भर जाता है। सत्य के शत्रुओं ने उन्हें मारा। भारत के शत्रुओं ने उनका जीवन समाप्त किया। एक महान युद्ध में वे खेल रहे। वे वीरगति को प्राप्त हुए। उनकी आत्मा को शतशत प्रणाम्।

प्र.ग. सहस्रबुद्धे
'सत्यम्' निवास
६८, गिलानीनगर
यवतमाल (महाराष्ट्र) ४४५००१